

९९

पटाक्षेप नहीं : लिली रे और मैथिली साहित्य का समाजशास्त्र

देव नाथ पाठक



मातृभाषा, जनभाषा, देशी या स्थानीय भाषा आदि के रूप में अनूदित अंग्रेजी का शब्द 'वर्नाक्युलर' दरअसल अपने आप में एक पुरख्ता विमर्श है। इस शब्द को हिंदी में अनुवाद कर देने मात्र से इसमें उपलब्ध साहित्य और संस्कृति, सामाजिकी और सूक्ष्म चेतना का अंदाज़ा नहीं लगाया जा सकता। वर्नाक्युलर साहित्य और संस्कृति का अंग्रेजी भाषा में भी संभवतः सटीक अनुवाद नहीं किया जा सकता है, कोशिश की जा सकती है। ऐसा ही एक प्रयत्न है यह लेख जो उत्तर भारत और मध्य नेपाल तक बोली जाने वाली भाषा मैथिली में हुए आधुनिक साहित्यिक लेखन को एक पृष्ठभूमि की तरह लेता है। मैथिली में प्राचीन से लेकर अर्वाचीन, मध्य युग से लेकर आधुनिक युग में साहित्यिक रचनाएँ होती रही हैं। मैथिली साहित्य का इतिहास बताने वाले विद्वानों ने आधुनिक-लिखित-और वाचिक परंपराओं को परस्पर गुत्थमगुत्था दिखाया है। इतिहासकार जयकांत मिश्र (1998), साहित्यकार रामदेव झा (2002), साहित्य विश्लेषक देवकांत झा (2004) और इनके अलावे और भी विद्वानों ने मैथिली साहित्य की ऐतिहासिकता को समझने की भरपूर कोशिशें कीं। संक्षेप में कहें तो यह ऐतिहासिकता किसी आधुनिक संग्रहालय (अर्काइव) की मुहताज नहीं, बल्कि यह

सामाजिक-सांस्कृतिक ऐतिहासिकता है जिसके संबंध आधुनिक इतिहास से भी हैं। साहित्य के माध्यम से सामाजिक इतिहास का अनुमान और अध्ययन करने की कोशिश होती रही है। आधुनिक मैथिली साहित्य के संदर्भ में भी ऐसा करने की आवश्यकता है।¹ उन सबमें एक अनोखी बात सामान्य थी। वो ये कि आधुनिक-लिखित साहित्य और पारंपरिक वाचिक स्मृति आपस में जुड़वाँ की तरह आबद्ध थे। लोक साहित्य और आधुनिक साहित्य एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।² यह भी उल्लेखनीय है कि साधारण लोक जीवन, रोज़मर्रा की बातें और घटनाएँ जो संभवतः किसी को इतनी हल्की लगें कि उस पर कोई विमर्श न हो—सब आधुनिक मैथिली साहित्य में प्रगाढ़ महत्त्व के विषय बनते हैं। चाहे हम मैथिली लोकगीतों के हवाले से विमर्श करें या फिर कुछ मैथिली साहित्यकारों और कवियों के संदर्भ में, लगता है कि एक ऐंश्रॉपॉलजिस्ट के संसार में रिश्ते-नातों के जाल में क्रिस्से-कहानियों का ऐसा भंडार है, जिनमें जीवन-मृत्यु से लेकर प्रेम-विषाद, मिलन-जुदाई, इहलोक-परलोक, सबके दर्शन हो जाएँ। इनमें दर्शन की गूढ़ता, संस्कृति की गतिशीलता और सामाजिक उठापटक सब समाए हुए हैं।³

प्रस्तुत लेख इसी पृष्ठभूमि में आधुनिक मैथिली साहित्य की एक अद्भुत लेखिका, लिली रे (26 जनवरी, 1933- 3 फ़रवरी, 2022), को समझने की कोशिश करता है। कौन हैं लिली रे और क्या थीं उनकी रचनाएँ? कैसे समझें लिली रे को वर्नाक्युलर की साहित्यिक, सांस्कृतिक, सामाजिक और राजनीतिक बिसात पर? इस लेख में एक सामान्य और विहंगम दृष्टि डाली जाएगी रे के व्यक्तित्व और कृतित्व पर यह देखने के लिए कि वर्नाक्युलर के पर्दे पर किस प्रकार का चित्र उभरता है। फिर हमारा ध्यान एक खास कृति पर केंद्रित होगा।

उनकी कहानियों का एक संकलन उपन्यास-रूप में प्रकाशित हुआ जिसका शीर्षक था—*पटाक्षेप*। यह उपन्यास धारावाहिक कहानियों के रूप में *मिथिला मिहिर*⁴ नामक पत्रिका में क्रमशः 1 जुलाई, 1979 से लेकर 7 अक्टूबर, 1979 तक प्रकाशित हुआ। इन कहानियों को पढ़ने के बाद मैथिली साहित्य आलोचक जीवकांत ने *मिथिला मिहिर* में ही 5 अगस्त, 1979 को एक आलोचना प्रकाशित की थी। लगे हाथ याद करते चलें कि लगभग 1975 में बंगाल

¹ हरिमोहन झा रचित *खड्डर काका* को लेकर किए गए एक ऐसे प्रयत्न के लिए देखें देवनाथ पाठक (2022)।

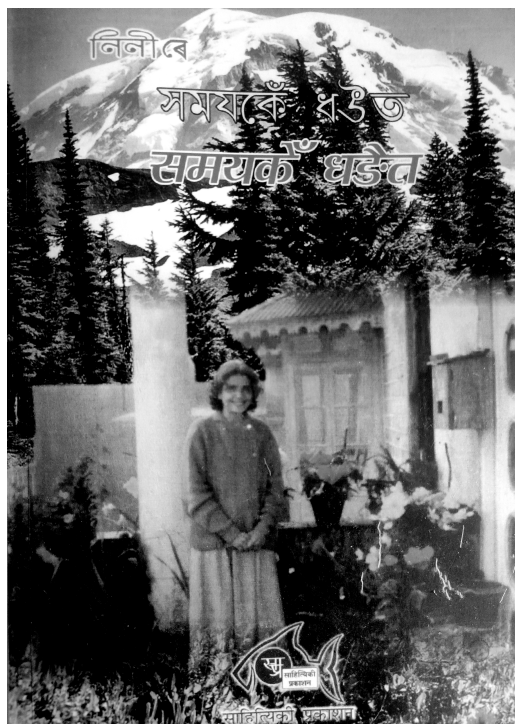
² कहते हैं कि विद्यापति ने संस्कृत साहित्य में पारंगत होने के बावजूद अपने समय में एक क्रांतिकारी पहल की थी। उन्होंने आम जन की भाषा के निकटस्थ अवहट्ट में रचनाएँ कीं। और भी अनेक उदाहरण दिए जाते हैं। और विस्तार से ऐतिहासिक दृष्टिकोण से समझने के लिए देखें पंकज झा (2019)।

³ इन्हीं विषय वस्तुओं को जोड़ते हुए दो तरह के विमर्श अन्य प्रकाशित पुस्तकों में उपलब्ध हैं, देखें देव नाथ पाठक (2019 और 2022)।

⁴ *मिथिला मिहिर* की पुरानी प्रासंगिकता है। किसी ज़माने में इसका संपादन जनार्दन झा 'जनसीदन' करते थे जो आधुनिक मैथिली के लब्धप्रतिष्ठित प्रोफ़ेसर हरिमोहन झा के पिता थे। *मिथिला मिहिर पत्रिका* को मैथिली साहित्य जगत का एक अंग माना जाता था। यद्यपि इस पत्रिका की आलोचना भी होती थी, कि दरभंगा राज और सरकारी संरक्षण प्राप्त यह पत्रिका कोई तरोताज़ा साहित्यिक क्रांति लाने वाली पत्रिका नहीं थी। मैथिली और हिंदी साहित्य जगत के ध्रुव माने जाने वाले वैद्यनाथ मिश्र यात्री अथवा बाबा नागार्जुन ने भी इसकी आलोचना की थी, देखें तारानंद वियोगी (2019)। *मिथिला मिहिर* और अन्य ऐसे उपक्रमों के मैथिली पब्लिक स्फीयर में योगदान को समझने के लिए देखें मिथिलेश कुमार झा (2018)।

में महाश्वेता देवी लिखित उपन्यास 1084 वें की माँ आ चुकी थी जिसमें एक शिक्षित युवक के नक्सलवादी बनने की सामाजिक प्रक्रिया और नतीजे को उसकी माँ के दृष्टिकोण से देखा गया था। और उससे भी पहले गौर किशोर घोष ने 1960 के दशक में *सगीना महतो* लिखा था जो साम्यवादी सामाजिक राजनीति की एक तीखी आलोचना थी। इसके अलावे भी साहित्यिक विवेचनाओं में मार्क्सवाद को लेकर अनेक धुरियाँ बनी थीं। ऐसे में मैथिली साहित्य के पटल पर पटाक्षेप एक प्रासंगिक और समयोचित दखल था।

सरिसब-पाही, मधुबन स्थित साहित्यिकी प्रकाशन द्वारा 2015 में प्रकाशित पटाक्षेप के संस्करण में संपादक रामानंद झा रमण ने जीवकांत की आलोचना को एक वृहत फुटनोट में उद्धृत किया है। उन्हीं के शब्दों में, ‘लिली रे एक समर्थ उपन्यासकार हैं। पटाक्षेप की दो धारावाहिक कहानियों को पढ़ने से ये स्पष्ट होता है। इस निष्कर्ष का पहला कारण यह है कि इन कहानियों में नोर-झोर यानि रोना-धोना नहीं है। दूसरा कारण यह कि पटाक्षेप उग्रवादी आंदोलन को पृष्ठभूमि बनाकर लिखा गया पहला मैथिली उपन्यास है। इसमें अनेक अपरिचित शब्दों को भी, जैसे शेल्टर, कॉमरेड, हो चिनमिन्ह, माओ आदि, मैथिली भाषा में लाया गया है’।⁵ जीवकांत ने यह बताया कि लिली रे नारी साहित्यकार के रूप में एक अपवाद हैं, क्योंकि वह अपनी रचनाओं में घर-आँगन से निकल कर खेत-खलिहान, शहर-गाँव आदि के क्रिस्से कहती हैं। इनमें स्त्री-विमर्श और सामाजिक संबंधों के प्रति चेतना होने के बावजूद एक विस्तार है जो अनेक विषयों को समेटता है। संपादक रमण तो पटाक्षेप में लिली



हम मैथिली लोकगीतों के हवाले से विमर्श करें या फिर कुछ मैथिली साहित्यकारों और कवियों के संदर्भ में, लगता है कि एक ऐंथ्रॉपॉलजिस्ट के संसार में रिश्ते-नातों के जाल में क्रिस्से-कहानियों का ऐसा भंडार है, जिनमें जीवन-मृत्यु से लेकर प्रेम-विषाद, मिलन-जुदाई, इहलोक-परलोक, सबके दर्शन हो जाएँ।

⁵ लिली रे (2015 ख) : 7. इस लेख में ऐसे सारे उद्धरण मैथिली से हिंदी में अनूदित हैं। रचनात्मक स्वतंत्रता के साथ ये सभी अनुवाद मैंने किए हैं।

रे की खास लेखन शैली, साहित्यिक विधा, और संवेदना का उल्लेख करते हैं। इस विशेषता का कारण यह भी है कि पटाक्षेप मुखर रूप से आत्मकथात्मक लेखन है जिसमें काल्पनिकता के ज़रिये दृश्यों को जीवंत किया गया है। लिली रे वस्तुतः अपने बेटे रबींद्र यानि लल्लू रे और उनके दिल्ली से आए दोस्तों की कहानी बयान कर रही हैं। अब जब बेटा एक पात्र है तो उसकी माँ, यानि लेखिका लिली रे, उनके पति राय साहेब या डॉक्टर साहेब (अर्थात डॉक्टर हरेंद्रनारायण राय) और अन्य रिश्तेदार भी पात्र बन जाते हैं। लेखन और जीवन का ऐसा आलिंगन दिखाई पड़ता है कि लेखक को महज़ लेखक मानना नामुमकिन हो जाता है। साहित्य और समाज, रचना और संस्कृति, शाब्दिक और वाचिक, सब एक-दूसरे से लगातार रूबरू होते हैं। यही वजह है कि प्रस्तुत लेख में लिली रे की कृति और जीवन को देखते-पढ़ते-समझते हुए, न चाहते हुए भी कोई साहित्य का समाजशास्त्र गढ़ सकता है। यह एक ऐसा समाजशास्त्र है जिसमें सहज, स्वतःस्फूर्त, स्वचालित रिश्ते-नातों में ही साहित्यिक रचनाएँ विद्यमान हैं। साहित्य के इस तरह के समाजशास्त्र में लेखकीय अस्तित्व भी एक चिंतन का विषय है। इसमें एक प्रकार की रचनात्मक विडंबना बनी रहती है— लेखक है या नहीं! साहित्य का ऐसा समाजशास्त्र ही साहित्य को जीवन और दर्शन से प्रगाढ़ संबंध देता है।⁶

लिली रे को राष्ट्रीय पहचान तब मिली जब उन्हें उनके उपन्यास *मरीचिका* के लिए 1982 में साहित्य अकादेमी पुरस्कार मिला। *मरीचिका* दो भागों में पटना स्थित मैथिली अकादेमी से प्रकाशित हुआ था। लेकिन लिली रे की सामाजिक पहचान किसी पुरस्कार की मुहताज नहीं थी। अपनी विशिष्ट जीवन-शैली और क्रिस्से-कहानियों को लेकर वह लोकप्रिय हो चुकी थीं। उनकी एक आत्मकथा भी है *समय कें धंगैत*, जिसका प्रकाशन 2015 में साहित्यिकी द्वारा किया गया था। यह आत्मकथा और टुकड़ों में उपलब्ध अन्य साहित्यिक विचारकों के अनुभव का एक संक्षिप्त ब्यौरा देना ज़रूरी है। इसी ब्यौरे में स्पष्ट होगा लिली रे के साहित्य-कर्म और रचना-धर्म का समाजशास्त्र, जो इस लेख का रुख पटाक्षेप की तरफ़ करने में सहयोगी होगा। तो सबसे पहले एक मूल प्रश्न उठाते हैं, और जानते हैं लिली रे के व्यक्तित्व को जो उनके समाज और संस्कृति के ताने-बाने में यूँ बुना है कि व्यक्ति और समष्टि का फ़र्क़ एक चुनौती बन जाता है।

इससे पहले कि यह लेख लिली रे पर केंद्रित हो यह समझना ज़रूरी है कि उनके व्यक्तित्व और रचनाओं के बरअक्स यह लेख किस प्रकार के साहित्य के समाजशास्त्र की ओर इशारा

⁶ कुछ ऐसा ही बोध होता है अगर हम मिशेल फूको (1977) के उस लेख को याद करें जिसमें उन्होंने पाठ और पाठक के बीच लेखक की क्षीण उपस्थिति की विवेचना की थी। पाठ/साहित्य/रचना को पाठक और विश्लेषक के हवाले कर दिया गया ताकि वो पाठ की गूढ़ता की व्याख्या करें और उसके सामाजिक संबंधों को उजागर करें। फूको के ये विचार दरअसल रोलाँ बार्थ (1977) की दलील की आलोचना में प्रस्तुत थे। बार्थ ने किसी पाठ को उसके लेखक से ऐसा जोड़ा था कि उसमें किसी प्रकार के हस्तक्षेप की गुंजाइश कम थी। उसमें लेखक का वर्चस्व बना हुआ था। अगर इन दोनों को एक-साथ पढ़ें तो यह समझ में आता है कि किसी पाठ और पाठक के बीच लेखक है भी और नहीं भी। इसी बीच की स्थिति का फ़ायदा प्रस्तुत लेख में उठाया गया है और लिली रे और उनकी रचनाओं को देखते हुए व्याख्यात्मक छूट ली गई है। लेकिन लेखक को पूर्णतः नकारा भी नहीं गया है।

करता है। भारत में समाजशास्त्र और नृविज्ञान यानि ऐंथ्रोपॉलजी का साहित्य और संस्कृति से थोड़ा अजीबोगरीब रिश्ता रहा है। शोध, लेखन, पठन-पाठन के विगत कुछ दशकों तक का लेखाजोखा कुछ वही कहेगा जो किसी अन्य संदर्भ में प्राचीन मनीषी भर्तृहरि कहा करते थे, 'साहित्य संगीत कला विहीनः'। अलबत्ता समाजशास्त्रियों का सामाजिक संबंधों को समझने का दावा आधुनिकता के प्रारंभ से चला आ रहा है। और भारत में भी राधाकमल मुखर्जी (1944, 1948) जैसे समाजशास्त्रियों ने संस्कृति और कला आदि से समाजशास्त्र का संबंध दिखाया था। लेकिन क्या मज़ाल कि ऐसे पथ प्रदर्शक समाजशास्त्रियों को भारत में याद रखा जाए।⁷ भारत में समाजशास्त्र के इतिहास की तरफ़ इसी उद्देश्य से रुख किया जाता है कि कैसे उन सभी पथ-प्रदर्शकों को राष्ट्रवादी साबित करके दरकिनार कर दिया जाए। बाद में अपवाद स्वरूप ही समाजशास्त्रियों ने साहित्य, संस्कृति और कला को विषय-वस्तु बना कर सामाजिक विश्लेषण किया। यह लेख लिली रे के लेखकीय व्यक्तित्व और कृतित्व को समाज-संस्कृति की परिधि में समझने की कोशिश करता है।

लेखन और लेखिका : कौन हैं लिली रे?

यद्यपि लिली रे का देहांत गत 3 फ़रवरी, 2022 को हो गया, लेकिन उनका साहित्यिक अवदान दीर्घजीवी रहेगा। और संभवतः साथ ही सजीव रहेंगे वे अनेक क्रिस्से जो लिली रे के बारे में प्रचलित थे। मैथिली साहित्य और संस्कृति को जानने और नहीं जानने वाले, सब तरह के बुद्धिजीवियों के बीच कुछ कानाफूसीनुमा और कुछ तथ्याधारित चित्र मिलते हैं।

‘राय परिवार की अंग्रेजिया पुतोहू’ के रूप में एक चित्र बनता है जो अफ़वाह या हँसी-मजाक के तौर पर अक्सर सुनाया-दिखाया जाता रहा है। लिली रे की याद में कोई भी गोष्ठी हुई तो उसमें किसी न किसी के मुँह से यह सुना गया कि लिली रे के होठों पर पारंपरिक समदौन मैथिली गीत और उनके हाथ में वाइन का गिलास होता था। हल्के-फुल्के अंदाज़ में कही-सुनी ऐसी बातें दरअसल एक गूढ़ रहस्य का सूचक हैं। वो रहस्य है लिली रे का व्यक्तित्व जिसे प्रोफ़ेसर शंकर झा ने ‘समन्वित संस्कार’ कह कर सम्मानित किया था। प्रोफ़ेसर शंकर झा लिखित लिली रे का एक लघु परिचय रे के कथा संग्रह ‘रंगीन परदा’ (2014) में प्रकाशित हुआ। इसमें प्रोफ़ेसर झा ने लिली रे के व्यक्तित्व में चार महत्वपूर्ण कोण रेखांकित किए। वो हैं, पैतृक पक्ष में अयाची मिश्र और नव न्याय के ज्ञान की परंपरा और साथ ही बनैली राजपरिवार के संबंधों से आया अभिजातवर्गीय भोग-विलास। लिली रे के पिता श्री भीमनाथ मिश्र अंग्रेजी नौकरशाही में वरिष्ठ पुलिस अधिकारी (आय.पी.एस.) थे। पैतृक और मात्रिक पक्ष मिलाकर रे का संबंध मधुबनी से लेकर पूर्णिया तक, यानि मिथिला के एक बड़े भू-भाग से होता है। इसी से जुड़ा तीसरा कोण है पिता के संसर्ग में उनके रहन-सहन, पाश्चात्य जीवन-

⁷ टी.एन. मदन ने (2013) इस प्रवृत्ति को भारत में बौद्धिक एम्नेज़िया कहा और लखनऊ विश्वविद्यालय स्थित समाजशास्त्र और मानव विज्ञान के इन आधुनिक मनीषियों के कुछ कार्यों को एकत्र करने की चेष्टा की।

शैली और मिशनरी ईसाई शिक्षा और मूल्यों के प्रति झुकाव का। यद्यपि लिली रे की औपचारिक शिक्षा बहुत देर से शुरू हुई, और किसी खास मुकाम पर नहीं पहुँची, लेकिन पढ़ने की ललक और प्रवृत्ति बचपन से शुरू हुई और जीवन भर रही। फिर आश्चर्य नहीं कि एक रे के व्यक्तित्व में एक चौथा कोण बनता है पश्चिमी सभ्यता से जुड़ी उदारवादी और प्रगतिशील विचारधारा का। अपनी माँ के पक्ष से लिली रे को साहित्यिक रचना के प्रति रुझान भी मिला। रे के मामा पंडित हीरानंद शास्त्री *आर्यावर्त* अखबार के संपादक थे।

ये सब अपने आप में मैथिली भाषी समाज के लिए पर्याप्त अनहोनी था। आखिर मिथिला के पितृसत्तात्मक समाज में बेटी की शिक्षा-दीक्षा एक गौण विषय थी। मिथिला और भोजपुरी भाषी अंचल में जाति की सामाजिक संरचना पर शोध-लेखन करने वाले बिहार के प्रख्यात समाजशास्त्री हेतुकर झा (1991) के विश्लेषण में भी मैथिल स्त्री के दोयम दर्जे की कोई विशेष चर्चा नहीं मिलती है। जबकि मैथिल समाज में अब तक व्याप्त भेदभाव की संरचना में जाति, वर्ग और लिंग का संबंध स्पष्ट दिखता है। चाहे जाति ऊँची हो या नीची, और वर्ग प्रगतिशील हो या नहीं, मिथिला में लड़कियों की शिक्षा से लेकर उनके संपूर्ण जीवन पर पुरुषों का एकाधिकार रहा है। यहाँ तक कि दरभंगा के तथाकथित प्रगतिशील सोच वाले महाराज लक्ष्मीश्वर सिंह की दोनों रानियाँ भी अँगूठा छाप ही थीं। आधुनिक मिथिला के प्रतिष्ठित विद्वान डॉक्टर सर गंगानाथ झा ने भी अपनी बेटियों के लिए शिक्षा का इंतजाम घर की चारदीवारी के अंदर ही किया था। आद्या झा ने भी, जो लिली रे की ननद थीं और कालांतर में पद्मश्री से सम्मानित हुई थीं, स्कूल का मुँह नहीं देखा था। ऐसे समाज में इतने प्रगतिशील परिवार होने के बावजूद लिली रे को भी अपनी ही कोशिशों से पढ़ने-लिखने की ललक और आदत हुई। इतना आसान नहीं था लिली रे का तथाकथित 'अंग्रेजिया पुतोहु' होना। अगर वह रोज *दुर्गा सप्तशती* का पाठ भी करती थीं, और सनातन धर्म का पालन करने वाली ठेठ मैथिल गृहिणी थीं तो साथ ही नई और तकनीकी कौशल को सीखने और जीवन में प्रयोग करने में भी पीछे नहीं रहती थीं। अगर उनमें अभिजात्य प्रवृत्ति थी तो साथ ही उनमें सर्वहारा वर्ग के प्रति एक संवेदना थी जो उनकी लिखित क्रिस्से-कहानियों में सहज ही आ जाती थी। विवाहोत्तर जीवन में उन्हें घूमने और अनगिनत लोगों से मिलने-जुलने का अवसर मिला। मिथिला के मैदानी समाज की बेटी अपने ससुराल से आगे बढ़कर हिमालय के अनेक खास जगहों पर भी यदाकदा समय बिताने लगीं।

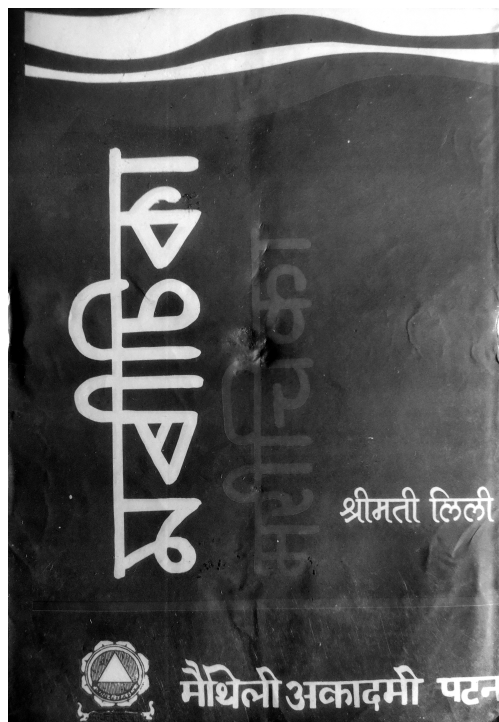
उनकी कृतियों से रूबरू शंकर झा और अन्य विश्लेषकों ने अनुमान के आधार पर लिली रे पर अन्य साहित्यकारों के प्रभाव का आकलन करने की कोशिशें कीं। रे से इस मामले में जब भी सवाल किया गया, सारे आकलन नाकाम पाए गए। किसी ने उन्हें अमृता प्रीतम के जैसा पाया क्योंकि रे भी अपने आप को बहुत ही वस्तुनिष्ठ तरीके से देखती थीं। किसी ने उन्हें बंगाली लेखक विमल मित्र के समीप पाया क्योंकि रे भी पीढ़ियों का वृत्तचित्र जैसा बनाती थीं। लेकिन रे ने इन सभी अनुमानों का खंडन किया। उन्होंने स्वीकार किया कि वो मैथिली

लेखक ललित और राजकमल चौधरी को पसंद करती थीं, और उनके रिश्तेदारों के बीच हरिमोहन झा भी प्रचलित थे। लेकिन इनमें से किसी की भी शैली या साहित्यिक संवेदना का प्रभाव रे के व्यक्तित्व या कृतित्व पर नहीं था। फिर भी शंकर झा का मानना था कि लिली रे पर निश्चित रूप से रूस के लेखक मैक्सिम गोर्की का अप्रत्यक्ष प्रभाव था तभी तो *मरीचिका* और *पटाक्षेप* में सर्वहारा का एक सामाजिक-सांस्कृतिक चित्रण मिलता है। यह सब अनुमान ही हैं, वैसे अपने समय के मैथिली रचनाकारों के काम से वो भली-भाँति परिचित थीं। उनके अपने परिवार में राजकमल चौधरी के *ललका पाग* उपन्यास की प्रशंसा होती थी। एक बहनोई के गपशप को उतना ही रोचक समझा जाता था जितना हरिमोहन झा का रसमय विनोदात्मक गल्प।

और तो और, जब पहली बार उन्हें रे ने दार्जीलिंग में सर्दी से उबर रहे पहाड़ों के ऊपर सूर्यास्त देखा तो वो सहसा कह पड़ीं, 'पत्रहीन नग्न गाछ'⁸ जिसे पढ़कर किसी को भी बाबा नागार्जुन की कविता याद आ जाए।

उनकी साहित्यिक यात्रा पहली कहानी *रोगिणी* से शुरू होती है जो 1951 में दरभंगा के वैदेही नामक पत्रिका में प्रकाशित हुई। कहते हैं कि तब रे सिर्फ बारह साल की थीं। लेखिका का नाम था कल्पना शरण। इसी छद्म नाम से बाद की अनेक रचनाएँ जैसे *आत्महत्या*, *आठवर्ष*, *अपमान* आदि शीर्षक से अनेक क्रिस्से हिंदी पत्रिका *माया* में 1954 में लिखा। और कल्पना शरण के ही नाम से उन्होंने *रंगीन परदा* लिखा जो अन्य कहानियों के साथ 1956 में प्रकाशित हुआ। *मिथिला मिहिर*

पत्रिका में 1978 में पहली बार ये खुलासा हुआ कि कल्पना शरण दरअसल लिली रे हैं। इसके बाद ही लिली रे ने छद्म नाम छोड़ अपने नाम से क्रिस्से प्रकाशित करने शुरू किए। *पटाक्षेप*



लिली रे की याद में कोई भी गोष्ठी हुई तो उसमें किसी न किसी के मुँह से यह सुना गया कि लिली रे के होठों पर पारंपरिक समदौन मैथिली गीत और उनके हाथ में वाइन का गिलास होता था। हल्के-फुल्के अंदाज़ में कही-सुनी ऐसी बातें दरअसल एक गूढ़ रहस्य का सूचक हैं।

⁸ लिली रे (2015 क) : 37.

और *मरीचिका* उनके नाम से छपने वाली लोकप्रिय साहित्यिक रचनाएँ थीं। बहरहाल प्रश्न उठता है कि क्यों छद्म नाम कल्पना शरण को आगे रख कर लिली रे ने अपने आप को छुपाया? क्या वजह थी कि लिली रे लिख रही थीं लेकिन अपने नाम को साहित्य के जगत से बचाए रखते हुए? साहित्य के समाजशास्त्र का कौन-सा पहलू इस छद्मनाम से जाहिर होता है? ऐसे अनेक प्रश्नों के उत्तर मिल सकते हैं अगर हम लिली रे की आत्मकथा की तरफ़ रुख करें।

पिता भीमनाथ मिश्रा और उनके दो भाइयों (कका) का एक सम्मिलित परिवार था जो अलग-अलग जगहों पर होने के बावजूद नातेदारी में बड़े ही पारंपरिक तरीके से जुड़ा था। श्री मिश्रा को ज़मींदारी मिली तो तीनों भाइयों ने तीन जगह रहने की सोची, पापा पटना में, एक कका भागलपुर और दूसरे रामनगर में। पापा के अलावे कका सब भी प्रभावशाली थे। नतीजा यह हुआ कि परिवार के बच्चे कभी पटना, कभी भागलपुर, कभी रामनगर और इसके अलावे अनेक जगहों में रहते। प्रवास स्थानों की सूची बड़ी है, कभी मसूरी, कभी दार्जीलिंग, और विवाह के बाद तो लिली रे झारखंड और उत्तर प्रदेश में अनेक जगहों पर थोड़े-थोड़े समय के लिए रहीं। जितनी जगहें उतनी सामुदायिक-सामाजिक विविधता, और नए नए कौशल सीखने, पढ़ने, जानने, और लिखने के अवसर। लिली रे की जीवन यात्रा उनके 'समन्वित' व्यक्तित्व और लेखन के व्यापक परिधि का रहस्योद्घाटन करती है। अगर इस जीवन यात्रा को लिली रे की स्मृति पर आधारित आत्मकथा से समझ लें तो 'अंग्रेजिया पुतोहू' वाला उपमा केवल हँसी-मज़ाक़ का विषय नहीं रह जाता।

कका का घर भागलपुर में था और घर के पास ही माउंट कार्मेल स्कूल खुला था। 1945 का साल था और परिवार की बेटियों को माउंट कार्मेल में पढ़ाने का निर्णय हुआ। अभी दो एक साल ही लिली भी स्कूल गईं कि उनका विवाह हो गया! 1948 में एक बच्चा भी हो गया, लड़का, जिसका नाम था रबींद्र रे, प्यार से लल्लू। स्कूली पढ़ाई तो जैसे शुरू होते ही छूट गई लेकिन पढ़ने-लिखने की ललक जग चुकी थी। नतीजतन लिली अपने भाई-बहनों की किताबें पढ़ जातीं। अपने भाई के अंग्रेज़ी ऑनर्स की किताबें तक पढ़ गईं, जैसे टी.एस. इलियट की कविताएँ और पर्ल एस. बक का उपन्यास! बाद में भी उन्हें ऐसे अनौपचारिक स्वाध्याय के अवसर मिलते रहे। रामनगर अपने कका के पास गईं तो वहाँ घर में ही उनके पिता के विद्यार्थी जीवन की अनेक रोचक हिंदी, अंग्रेज़ी और बांग्ला की किताबें मिल गईं। बंकिम, रबींद्रनाथ, शरतचंद्र आदि में से जो पढ़ पाईं पढ़ लिया। उन्हें शरतचंद्र का लिखा *चंद्रनाथ*, *राम की सुमति*, और *बिंदो की लल्ला* के हिंदी अनुवाद पढ़ने को मिले। विवाह के बाद ऐसे और भी अवसर गाहे-बगाहे मिले। जैसे गोमिया में क्लब की लाइब्रेरी में उन्होंने समरसेट मॉम के कथा संग्रह *वर्ल्ड ओवर* और रिचर्ड गॉर्डन के *डॉक्टर सीरीज* को पढ़ डाला। या फिर जब वो अपने पिता के साथ दार्जीलिंग प्रवास पर थीं तो *रीडर्स डाइजैस्ट* के अनेक अंकों को धुआँधार पढ़ा। 1951 उनके पति रायसाहब जमशेदपुर में नौकरी कर रहे थे वो सपरिवार जिस मोहल्ले में रहते थे वहाँ लगभग ज़्यादातर पड़ोसी बंगाली थे। लिली रे ने उन्हीं

के संसर्ग में बांग्ला गाने सीखे और बांग्ला पढ़ना शुरू कर दिया, और बांग्ला पत्रिकाएँ जैसे देश, *वसुमति*, *उल्टो रथ* आदि पढ़ने लगीं। पढ़ने की ये ललक, अनेक अन्य कौशल को सीखने और लिखने से भी जुड़ी थी। इसका और विवरण उनके लघु जीवनवृत्त, *समयकें धंगैत*, में ज़ाहिर होता है।

रे के शब्दों में, ‘हमारा परिवार मैथिल समाज में एक आधुनिक परिवार के रूप में देखा जाता था। लेकिन मिथिला के अन्य परिवारों की तरह ही हमारा परिवार भी विचारधारा में अनुदार था। इसका खुलासा विशेष रूप से विवाह, प्रेम, संबंध-विच्छेद, तलाक़ आदि मुद्दों में होता है। ये कल्पना नहीं की जा सकती थी कि कोई मैथिल युवक और युवती प्रेम कर बैठे। हाँ, अन्य समुदायों के इस तरह के प्रेम कहानियों को पढ़ा जाता था और बड़े चाव से चर्चा भी होती थी। इसीलिए मुझे ये डर था कि मेरी लिखी कहानियों को मैथिली भाषी लोग कभी स्वीकार नहीं करेंगे। संभवतः वो मेरी कहानियों को घटिया कहेंगे। जो मेरे जितने अभिन्न दोस्त और रिश्तेदार हैं वो उतनी ज़्यादा निंदा करेंगे और क्रोधित होंगे।’⁹

लैंगिक-सामाजिक भेदभाव वाले समाज में लोकलाज महज़ एक संस्कार नहीं होता। वो भय बनकर व्यक्तित्व को बाधित करता है। लेकिन सजग और संवेदनशील लेखिका इससे रुकती कैसे? उन्होंने उन्हीं सामाजिक, पारिवारिक, नातेदारी के बनावट में लेखन को सँवारा। उनके लेखन का विषय, विचार का क्षेत्र, और लेखकीय शैली भी उसी ताने-बाने से उपजी जिसमें उनका व्यक्तित्व निर्माण हुआ। 1945 में जब वो बारह साल की थीं तो उनका विवाह तय हो गया। पूर्णिया जिला में दुर्गागंज के निवासी मुंसिफ़ श्री बद्रीनारायण राय के बेटे हरेंद्रनारायण राय से जो आधुनिक चिकित्साशास्त्र के विद्यार्थी थे और उनके भाई यानि लिली रे के भैंसुर भागलपुर जेल के सुपरिंटेंडेंट थे। ससुराल भी उसी प्रकार का जैसा पिता का घर – पारिवारिक स्तर पर महिलाओं को भरपूर छूट थी। 1948 में माँ बन गईं। पिता भीमनाथ मिश्र भागलपुर में कार्यरत थे जब पति रायसाहब डॉक्टर की पढ़ाई के लिए विलायत गए। लिली रे अपने माँ और पिता के साथ भागलपुर में रहीं। इसके बाद 1951 में राय साहब की नौकरी जमशेदपुर में लगी तो वहाँ चली गईं। 1957 के बाद पिता के साथ पहाड़ों की तरफ़ आना-जाना शुरू हुआ। पिता की तबियत के लिए पहाड़ में प्रवास की सलाह थी। उनसे मिलने-जुलने, और उन्हें देखने-सुनने के लिए परिवार और नातेदारी से लगभग सब कोई आते-जाते रहते। एक मायने में लिली रे की आत्मकथा परिवार के सभी लोगों के लगातार आवाजाही और भ्रमण की कहानी है। किसी की तबियत ख़राब हो या किसी के परिवार में कोई अनुष्ठान या विशेष अवसर जैसे किसी बच्चे का जन्म या शादी-ब्याह हो, तो मूल सदस्य और उनके पति या पत्नी का आने-जाने का कार्यक्रम आम बात थी। पारंपरिक, संयुक्त या अर्ध-संयुक्त सम्मिलित परिवारों में ऐसे ही होता रहा है। सबके व्यक्तित्व की रूपरेखा किसी न किसी पारिवारिक कर्तव्य के तहत ही बनती थी।

⁹ वही : 22.

इसी प्रसंग में एक घटना का जिक्र जरूरी होगा। लिली रे के ससुर का इलाज चल रहा था, और बहू लिली रे परिवार के अन्य सदस्यों के साथ उनकी देखरेख करती थीं। अंततः वो मरणासन्न हो गए तो किसी को उच्च जाति में प्रचलित मृत्यु के अनुष्ठान की बात सूझी। मर रहे व्यक्ति को विधिवत किसी बाछी की पूँछ पकड़वाई जाती है। मान्यता है कि बाछी ही मरणोपरांत दिवंगत आत्मा को भवसागर पार कराती है। ये सब प्रक्रिया आम तौर पर घर के बाहर, बरामदे में या खुले आकाश के नीचे तुलसी-चौरा के नीचे किया जाता है। लेकिन लिली रे या किसी अन्य सदस्य को न तो ध्यान आया न समय मिला कि मरणासन्न ससुर को अनुष्ठान के लिए घर से बाहर ले जाएँ। जब सभी सगे-संबंधी आए तो सबने लिली रे को ताना मारना शुरू कर दिया, 'घर में क्यों प्राण जाने दिया, तुलसी चौरा दूर तो नहीं? वहाँ ज़मीन पर लिटा देतीं'।¹⁰ लेकिन बहू लिली रे ने जवाब दिया, और शायद उनके जवाब में एक बार फिर हमें उनके व्यक्तित्व की गूढ़ता दिखाई पड़ती है। उन्होंने कहा, 'मैं कैसे कहती किसी को अपने पिता को जीवित अवस्था में मिट्टी में फेंक देने के लिए? न मैं ऐसा किसी को करने के लिए कहूँगी, न किसी को करने दूँगी'।¹¹

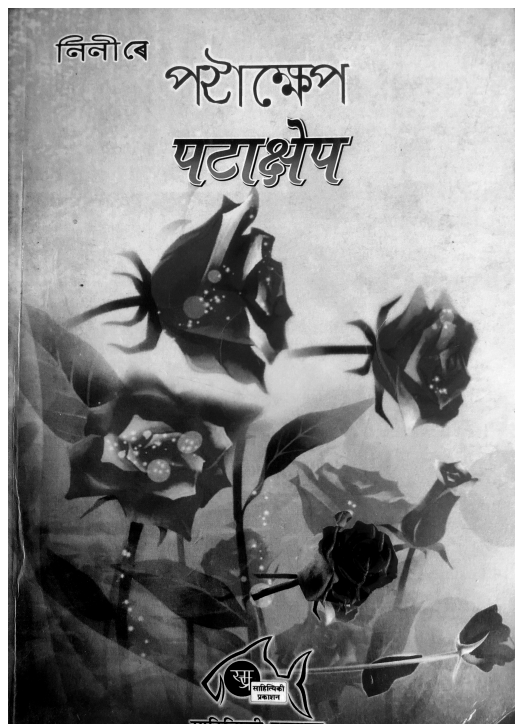
लिली रे जहाँ जातीं और थोड़े समय के लिए भी रहतीं तो वहाँ के लोगों और उस जगह से वो कुछ न कुछ सीख लेती थीं। दार्जीलिंग के नेपाली और भूटिया को देखा और समझ गई कि उनके जीवन में क्या सबसे महत्वपूर्ण है, फूल, गीत और कुत्ते! हिमालय के पहाड़ी जंगल को देखा और एक चित्र बना लिया मन में जिनमें जंगली डेज़ी, गुराँस, चांप, घुप्पी गाछ आदि, गमकते थे। दार्जीलिंग में इतालवी पड़ोसन मारिया माँग फ्रीदिनी और उसकी बेटी केका से दोस्ती हो गई। एक पारसी दोस्त दौलत एंटी भी मिल गई। किताब की दुकानें, कैफ़े और बाज़ार आदि में घूमने, और दोस्तों के साथ मिलते-जुलते लिली रे दरअसल सहज शिक्षित हो रही थीं। इस शिक्षा में तौर-तरीके, सभ्यता-संस्कृति, सामाजिकता और घनिष्ठता सब शामिल थे। तभी तो जब जरूरत पड़ी तो रायसाहब के जन्मदिन पर खुद ही केक बना लेतीं। पति के साथ उनके रोज़गार के प्रारंभिक वर्षों में लिली रे कभी सिजुआ, कभी गोमिया तो कभी रिसड़ा में रहीं। ऐसा लगता था कि सब मिलकर सपरिवार रोज़गार के संघर्ष में शामिल थे। यदि सिजुआ में बहुत कठिनाइयाँ थीं तो गोमिया में अनेक आकर्षण। 1958 में रायसाहब गोमिया में एक बहुदेशीय कंपनी आई.सी.आई. में चिकित्सक के तौर पर लगे थे। लिली रे उनके साथ थीं और बेटा लल्लू बोर्डिंग स्कूल से घूमने आता था। एक बार घर से लगे क्लब के स्विमिंग पूल में लल्लू ने तैराकी सीखना शुरू किया। माँ क्यों पीछे रहती? एक ही स्विमिंग पूल में माँ और बेटा लल्लू दोनों तैराकी करते थे। वहाँ पर अनेक विलायती कारिंदे भी थे जिनसे रायसाहब की दोस्ती हो गई थी। लिली रे के लिए जानने-सीखने की और भी खिड़कियाँ खुल गईं। मिस्टर स्टारी फ़्रेड और मार्गरेट का ईसाई पद्धति से हज़ारीबाग के चर्च में विवाह देखा। मार्गरेट से

¹⁰ वही : 32.

¹¹ वही.

लिली रे की अंतरंग दोस्ती थी। रे ने मार्गरेट के सीज़ेरियन द्वारा हुए प्रसव के बारे में भी लिखा है और मार्गरेट के बच्चे के लिए धोती-साड़ी के टुकड़े से बने पोतड़े या नैपीज़ दिए। वहीं क्लब में सबने डांस भी सीखा और लिली रे राय साहब के साथ पार्टी में डांस करती थीं। 1961 में रायसाहब का तबादला कलकत्ते के नज़दीक रिसड़ा में कंपनी के एक फ़ैक्ट्री में हो गई। वहाँ अनेक अधिकारी कलकत्ते से ही आया-जाया करते और उनके लिए रेस्टहाउस के टिफ़िन रूम में खाने की सुविधा थी। विदेशी सदस्यों को पता चला कि लिली रे पाक कला में निपुण हैं और भारतीय भोजन के साथ-साथ विदेशी भोजन भी पका सकती हैं। फिर क्या था, क्लब के टिफ़िन रूम की जिम्मेवारी उन्हीं की हो गई। इंडियन करी के अलावे आइसिंग, बेकिंग सहित विदेशी व्यंजनों में भी महारत हासिल हो गई। जो ड्राइवर उन्हें पाक सामग्रियों की ख़रीदारी के लिए कलकत्ते ले जाया करता था, उसी से लिली रे ने कार चलाना भी सीख लिया। सिनेमा और सांस्कृतिक कार्यक्रम आदि देखने के लिए वो सपरिवार कलकत्ता जाया करती थीं। अनेक विदेशी मंडलियाँ भ्रमण और प्रदर्शन के लिए आतीं। उसी क्रम में लिली रे ने रूस के एक विख्यात बैले नृत्य-संगीत नाट्य 'स्वान' को देखा। लोग उस समय सिनेमा के अलावे बांग्ला नाटक भी देखा करते थे।

इसके अलावा रिसड़ा में लेडीज़ मीट यानि, महिलाओं की दिन की पार्टी होती थी, जिसमें फ़ैक्ट्री में कार्यरत मुलाज़िमों की बीवियाँ शरीक होती थीं। कंपनी के निदेशक की पत्नी मिसेज़ फ़ेयरहेड तो बहुत बढ़िया रुई भरे खिलौने बनाती थीं और बनाना सिखाती भी थीं। सब खिलौने को दो या चार रुपये में ख़रीदते। जब ऐसे खिलौने पर्याप्त संख्या में बन जाते तो महिलाएँ मेला का आयोजन करतीं और खिलौने आदि बेचतीं। लिली रे लिखती हैं,



लिली रे की आत्मकथा परिवार के सभी लोगों के लगातार आवाजाही और भ्रमण की कहानी है। किसी की तबियत ख़राब हो या किसी के परिवार में कोई अनुष्ठान या विशेष अवसर जैसे किसी बच्चे का जन्म या शादी-ब्याह हो, तो मूल सदस्य और उनके पति या पत्नी का आने-जाने का कार्यक्रम आम बात थी।

‘हमलोगों ने भारत-चीन और भारत-पाकिस्तान युद्ध के समय भी ऐसे मेलों में खिलौने आदि बेचे, और जो आमदनी हुई उसे युद्ध फंड में भेज दिया। इसके अलावा भी हमलोग स्वेटर और अन्य उपयोग की वस्तु आदि बनाकर भेजते थे। सबके साथ मिलकर कोई अच्छा काम करना पार्टी के मजे से ज्यादा मजेदार लगता था’।¹²

पर्यटन का सिलसिला और बढ़ा और लिली रे उड़ीसा घूमी। लेकिन उनके लिए सबसे ज्यादा यादगार था बद्रीनाथ की यात्रा जिसकी कठिनाई का वर्णन लिली रे वैसे ही करती हैं जैसे जीवन की अन्य कठिनाइयाँ। जोशीमठ से आगे के दुरूह रास्ते से होकर जब वो और उनका परिवार हनुमान चट्टी पहुँचा तो कलकल बहती अलकनंदा के दर्शन हुए, जिसके पार भारतीय सीमा समाप्त और तिब्बत का क्षेत्र शुरू होता था। रास्ते में उन सबको भारतीय सेना के एक मेजर साहब ने चीन से युद्ध की बात बताई थी। लेकिन अलकनंदा के नीले बहते पानी और बद्रीनाथ के मंदिर को देखते हुए लिली रे लिखती हैं, ‘अलकनंदा के उस तरफ तिब्बती लोग रहते हैं और बद्रीनाथ उन सबका भी तीर्थ स्थल है। लग रहा था कि पहाड़ पर शाम ढल गई है लेकिन घड़ी देखा तो बस दोपहर का दो बजा था’।¹³

जीवन की इस गहमागहमी में बहुत नफ़ा था तो नुक़सान भी कम नहीं। अनुभवों का एक रोचक भूगोल प्रकट हो रहा था जिसमें ऐतिहासिकता की उग्रता नहीं थी। लिली रे के अनुभवों के मानचित्र पर इतिहास दबे पाँव किसी भूली-भटकी सहेली की तरह आता है और भूगोल के गले में बाँहें डाल कर दो पल बिता कर चला जाता है। तभी अनुभवों का एक सौंदर्य सामने आता है जिसमें, अगर नाट्यशास्त्र के प्राचीन विद्वान भरत मुनि (1951) की मानें तो, रस और अभिनय एक साथ सुर-लय में प्रकट होते हैं। पूरी आत्मकथा की ऐसी ही नाटकीयता है जो कहीं भी खलती नहीं। इतनी सहजता से लबरेज़ सूक्ष्मता है कि अगर पढ़ने वाला ध्यान से न पढ़े तो शायद अनेक मील के पत्थर छूट जाएँ और जीवन का ‘पथ कभी शेष नहीं हो’।¹⁴ जहाँ भूगोल की छाती पर इतिहास चढ़ कर बैठ जाए वहीं तो महत्वाकांक्षाओं के वितंडे खड़े होते हैं। लिली रे की आत्मकथा में सरलता, ठहराव के साथ जीवन की गतिशीलता मिलती है। वो अपने घर-परिवार, रिश्ते-नाते, दोस्त-पड़ोसी, ज्ञान-कौशल और अनुभवों के स्वतः प्रमाणित मानचित्र में विचरती रहीं। संभवतः यही सब था जिसकी वजह से लिली रे ने एक अरसे तक नहीं लिखा। वो खुद कहती हैं, ‘इस दौरान याद नहीं आता कि कभी कोई कहानी लिखा हो। जब से गोमिया गई किसी को बताया भी नहीं कि मैं कभी क्रिस्से-कहानियाँ लिखा करती थी। अलबत्ता लल्लू को याद था और वो कभी-कभार बातचीत में बोल देता था’।¹⁵

जब दोनों बेटे बड़े हो गए, वो बारबार अपनी माँ को रचना धर्म की याद दिलाने लगे। लिली रे ने भी अनुभवों का एक संसार देख लिया था जिसे क्रिस्सों के प्लॉट में ढालने की देर

¹² वही : 72.

¹³ वही : 77.

¹⁴ बंगाली फ़िल्म *सप्तपदी* के गीत का मुखड़ा जिसे हेमंत कुमार मुखर्जी और संध्या मुखर्जी ने गाया था.

¹⁵ वही : 84.

थी। लेकिन फिर भी उनका लेखन तब तक शुरू नहीं होता जब तक एक त्रासदी नहीं आती। आत्मकथा के अंतिम हिस्से तक आते-आते लिली रे पटाक्षेप के लिए तैयार एक ऐसी लेखिका नज़र आती हैं जिसने संसार को देखकर, उसमें शामिल होकर, और स्वाध्याय करके, एक बड़ी त्रासदी को कथा के रूप में ढालने को प्रस्तुत थीं। हालाँकि अन्य उपन्यासों और कहानियों को लिखते हुए भी लेखिका का संपूर्ण व्यक्तित्व विद्यमान था। वो लेखिका एक पत्नी थी, बेटी थी, बहन थी, और रिश्ते-नाते की बुनावट में एक ऐसी धागा थीं जिससे बाक़ी सारे धागे जुड़े थे। लेकिन पटाक्षेप में वो लेखिका स्पष्टतः एक माँ थीं जिसने अपनी लेखन शैली को ऐसे कसा कि उसमें 'नोरझोर' (रोने-धोने) की संभावना कम और प्रभावशाली चित्रण की ज़्यादा थी। संपादक रामानंद झा ने पटाक्षेप के आरंभ में अपनी संपादकीय टिप्पणी में ठीक ही कहा है, 'पूरा उपन्यास कथोपकथन शैली में और चरित्रों की भाषा में है। कहीं यह नहीं लगता कि लेखक की भाषा हावी हो'।¹⁶ उपन्यास में बांग्लादेश का मुक्ति युद्ध, चीन युद्ध, शरणार्थी की समस्या, मार्क्सवादी विचारकों और नक्सलवाद के प्रणेताओं के नाम भी आते हैं। लेकिन फिर भी, लिली रे की आत्मकथा की ही तरह, अनुभवों के भूगोल पर इतिहास का वर्चस्व उतना ही है जितना किसी सखी-सहेली की गलबहियाँ।

पटाक्षेप वाली लिली रे

अपनी आत्मकथा के अंतिम हिस्से को लिली रे पटाक्षेप के प्रारंभ में 'लेखन के कारण और प्रेरणा' शीर्षक के साथ दुहराती हैं। उनको और रायसाहब को पता चलता है कि उनका बेटा लल्लू यानि रबींद्र रे वामपंथी हो गए हैं। उन्होंने प्रीमेडिकल की पढ़ाई में अक्वल आने के बावजूद उसे छोड़ दिया। वो अंग्रेज़ी साहित्य पढ़ने लगे। लेकिन एम.ए. का इम्तहान भी छोड़ दिया। उन्होंने एक चिट्ठी लिखकर अपनी माँ को सूचित किया वो नक्सल आंदोलन में जा रहे हैं। माँ लिली रे को सबने यही कहा, 'जो नक्सल आंदोलन में जाता है, या तो मर जाता है या जेल में रहता है, लौट कर नहीं आता'।¹⁷ अलबत्ता लल्लू लौट कर आए, लेकिन एक ऐसी मनोदशा में कि वो किसी अज्ञात भय से संक्रमित हो गए थे। माता-पिता बहुत चिंतित थे। पिता तो कामकाज में व्यस्त हो जाते लेकिन माँ लिली रे घर पर चिंता से पीड़ित रहने लगीं। बेटे की हालत देख उनकी नींद उड़ गई थी, अनिद्रा की बीमारी हो गई। यही वो त्रासदी है जो उन्हें अपनी रचनात्मकता की तरफ़ वापस लाता है। लिली रे लिखती हैं 'अपने आप ही कलम चलने लगा। सब घर आते, खाना-पीना होता, और सब सो जाते। मेरी नींद हमेशा टूट जाती और मैं बिस्तर पर तकिए का सहारा लेकर बैठ जाती। ठेहुने पर कॉपी रखकर लिखने लगती। चाहे कुछ भी हो जाए मैं रात में लिखती ज़रूर'।¹⁸ सृजनात्मकता की वापसी का ही नतीजा

¹⁶ लिली रे (2015 ख) : 8.

¹⁷ वही : 13.

¹⁸ वही : 18.

था दो खंडों में लिखा उपन्यास *मरीचिका* जो साहित्य अकादेमी पुरस्कार से सम्मानित हुआ। लेकिन उससे पहले आया *पटाक्षेप*।

पटाक्षेप पढ़ते हुए हम न केवल उन युवकों के बारे में जान रहे होते हैं जो दिल्ली से उत्तर बिहार के पूर्णिया ज़िले के सुदूर गाँव में क्रांति करने के उद्देश्य से आए थे, बल्कि हम उपन्यास की लेखिका की आत्मकथात्मकता से भी रूबरू होते हैं। संभवतः सन् 1971 का साल है। पूर्वी पाकिस्तान की बांग्लाभाषी जनता अपने नेता के साथ क्रांतिकारी सपने देख रही थी। गतिविधियाँ तेज़ हो रही थी और पाकिस्तान की सेना भी कार्यवाही शुरू कर चुकी थी। भारत के मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी में फूट पहले ही पड़ी हुई थी। सिलीगुड़ी, दार्जीलिंग, बंगाल होते हुए नक्सलवाद के विचार शेष भारत में भी तेज़ी से पहुँच रही थी। मार्क्सिस्ट-लेनिनिस्ट कम्युनिस्ट पार्टी के नेताओं के नाम लगातार सुने जा रहे थे। चारू मजूमदार, कानू सान्याल और जंगल सन्थाल से उम्मीदें बँधी थीं। ये सब *पटाक्षेप* के पार्श्व में है, लेकिन बिना किसी लेखकीय रणनीति के तहत। इसीलिए ऐतिहासिकता अनुभव के भूगोल की शालीन सहचरी बनकर सामने आती है। यह ठीक वैसे ही है जैसे लिली रे की आत्मकथा में।

उपन्यास की शुरुआत होती है जब अनिल, दिलीप और सुजीत नामक युवक किशनगंज पहुँचते हैं। तीनों दिल्ली के एक ही कॉलेज के विद्यार्थी थे और साथ ही सी.पी.एम (एमएल) में शामिल हुए थे। अनिल पंजाबी क्रिश्चियन परिवार से थे और उनका परिवार बंबई में रहता था। सुजीत बंगाली कायस्थ और उनका परिवार बनारस में। दिलीप उत्तर प्रदेश के ब्राह्मण परिवार से थे लेकिन उनका परिवार की रिहाइश कलकत्ता में था। इस परिचय से तीनों काल्पनिक पात्र समझे जा सकते हैं। लेकिन लिली रे कल्पना का नाममात्र सहारा ले रही हैं और दरअसल में जो देखा और भोगा है वही बयान कर रही हैं। क्योंकि इन तीनों युवकों में एक उनका अपना लल्लू भी है जो संभवतः दिलीप के रूप में इस उपन्यास में प्रस्तुत है।¹⁹ तीनों ग्रामीण परिवेश से अनजाने थे और सबसे पहली चुनौती यही थी कि वो अपने रूपरंग, वेश-भूषा, हाव-भाव, चाल-चलन, रहन-सहन को छोटे शहरों और गाँव के अनुरूप बनाएँ। उतना आसान नहीं था जितना शायद सुन कर लगे। अनिल को खासी दिक्कत हो रही थी इसमें और इसी के तहत अनिल ने एक ऐसा काम पकड़ा कि वो उसमें रम गए, ट्रक में क्लीनर का (जिसे स्थानीय लहजे में खलासी कहते हैं)। अनिल दरअसल में एक खबरी भी थे और वो नज़र रखते कि कौन सा शेल्टर संदिग्ध हो गया है।

दिलीप और सुजीत बहुत हद तक कामयाब रहे, हालाँकि कभी-कभार मुश्किलें भी आईं। एक गाँव था डोभा जहाँ दिलीप किसी शेल्टर में थे, और गाँव के खेतों में किसान कुदाल से

¹⁹ यह भी अंदाज़ा लगाया जा सकता है कि अनिल दरअसल में दिलीप सिमियन हैं जिन्होंने इन्हीं सब आँखिन देखी अनुभवों को समेटते हुए अंग्रेज़ी में एक उपन्यास लिखा है, *रेवोल्यूशन हायवे* (2010)। उस उपन्यास को लिली रे के *पटाक्षेप* के साथ पढ़ने और विश्लेषण करने से बहुत कुछ नायाब निकल कर आ सकता है। साथ ही *पटाक्षेप* को रबींद्र के डॉक्टरेट के थीसिस के आलोक में भी पढ़ा जा सकता है। वह थीसिस एक किताब के रूप में भी प्रकाशित हुई थी जिसका शीर्षक था *द नक्सलाइट एंड देयर आइडिओलॉजी* (1980)।

ताम (खोद) रहे थे ताकि खेत की मिट्टी अगले फ़सल के लिए तैयार हो। दिलीप भी एक कुदाल उठा कर अन्य किसानों के साथ खेत तामने लगे, और एकबार कुदाल मिट्टी पर न लगकर उनके पैर पर लग गया। किसी ने झट्ट से कटे पर मिट्टी डाल दिया, किसी और ने कोई पत्ता चबाने को दे दिया, और किसी ने सलाह दी, 'सुबह-शाम इस घाव पर पेशाब कीजिए, दस दिन में ठीक हो जाएगा'।²⁰ दस दिन में पाँव फूल गया और घाव में दर्द ऐसा उठा कि पाँव का हिलना-डुलना बंद। तेज़ बुखार चढ़ आया सो अलगा। जैसे-तैसे टाँग कर दिलीप को स्टेशन और फिर कटिहार ले जाया गया। रेलवे के डॉक्टर ने पैर काटने की सलाह दी। सब उन्हें उठाकर एक अन्य डॉक्टर दास के क्लिनिक गए। उन्होंने समुचित इलाज किया।

ग्रामीण गतिविधियों के साथ ही सब पार्टी के गुप्त बैठकों में भी जाने लगे, जिसमें क्रांति की दशा-दिशा, किसानों के लगातार शोषण की स्थिति, और तत्काल निवारण की चर्चा होती थी। सभी कार्यकर्ता किसी न किसी गुप्त स्थान पर ठहरते जिसे शेल्टर कहा जाता। कुछ व्यक्ति थे जिन्हें बंक (बैंक) कहा जाता था और उनके सुपुर्द रुपये-पैसे महफूज रखे जाते थे। जब ज़रूरत हो तो काडर अपने रुपये बंक से लेते। ऐसे भी मौक़े आए कि बंक पैसे देने से मुकर गया। अनिल का एक ऐसा ही बंक था एक स्कूल मास्टर जिसके पास अनेक काडर के रुपये थे, और उसने देने से आनाकानी की। ये सख़्त हिदायत थी की कोई कार्यकर्ता अपना असल पहचान किसी को नहीं बताएगा। स्थानीय कार्यकर्ताओं के घर ही शेल्टर होते, जैसे जीवछ का, फेकना धानुक का, मोती कापड़ी का। पूर्णिया स्टेशन के पास एक सबसे विश्वस्त शेल्टर था सोखा सिंह का, जहाँ पैसे देकर ठहरने और खाने की व्यवस्था थी न कि विचारधारा या राजनीति के आधार पर।

उन्हीं दिनों बाढ़ आई और आसपास के सारे गाँव पहुँच से बाहर हो गए। कार्यकर्ता लोग भी बाढ़ग्रस्त गाँवों में ही फँस गए। उसके बाद जो बैठक हुई उसमें उम्मीद से ज़्यादा हताशा का जोर था। दस वर्ष से ऊपर हो गए और खेतों के पुनर्वितरण और अधिकार के लिए जो बटाईदार क़ानून बना था उसकी विफलता दिखाई पड़ रही थी। सरकारी उपक्रमों की मिलीभगत से इस क़ानून का उल्लंघन हो रहा था। अगहनी धान की फ़सल लगने वाली थी और किसान अब भी अपने-अपने खेत मालिकों के लिए ही निःसहाय होकर काम कर रहे थे। युवा काडर की यह भी शिकायत थी कि पार्टी के स्थानीय नेता शिवनारायण भी ढीले हैं। केवल ग्रामीणों को ही नहीं नेता को भी झकझोर कर जगाने की ज़रूरत है। इन बैठकों में अन्य जगहों पर हुई क्रांति की सफलता के क्रिस्सों को सुनने-जानने की बड़ी ललक थी। दिलीप को वो सारे क्रिस्से सुनाने के अवसर मिलते जो उन्होंने पढ़े या सुने थे। चीन देश का इतिहास, माओत्से तुंग की दो दशकों की युद्ध यात्रा, और अंततः सर्वहारा की विजय – महत्त्वपूर्ण क्रिस्से थे। पूर्णिया ज़िले के सर्वहारा भी यही सब करना-देखना चाहते थे। सब बेताब थे कि कानू सान्याल, चारु मजूमदार और जंगल संधाल क्या कह और कर रहे थे। आखिर

²⁰ लिली रे (2015 ख) : 26.

मखीचिका

नक्सलबाड़ी बहुत दूर नहीं था किशनगंज से, और न ही पूर्णिया दूर था। जैसे लोग मार्क्स और लेनिन का नाम लेते, वैसे ही स्थानीय नेताओं का। उन्हीं सब क्रिस्सों के जरिये दिलीप लोगों को क्रांति के प्रति आस्था और भरोसा दिलाने की कोशिश करते। लेकिन दिलीप के क्रिस्से सुनते हुए कार्यकर्ता लोग उनको बिना बहुत बोले ही प्रतिक्रिया देते थे। दिलीप को महसूस होता था कि लोग उनसे कह रहे हैं, ‘बाबू हमलोगों ने भी कम नहीं देखा है। ये सब कहना आसान है, करना नहीं’।²¹

सर्वहारा से संवाद की घटना लगभग पूरे पटाक्षेप में है। उम्मीद और उल्लास के आगे-पीछे डोलती है अनिश्चितता। लेकिन फिर भी दिलीप और उनके अन्य साथी जमे रहते हैं। एक साथी मोती कापड़ी सुजीत की कही बातों में अपनी बातें जोड़कर फटी आवाज में गाता है, जा के लाल किले पर भाई, देबै झंडा हम फहराई। राज लेबै मजदूर ओ किसान के, बोल मुक्का तान के ना’।²²

ऐसे कितने अन्य गीत थे, बांग्ला भाषा में भी, जो मोती किसी भी समय गाने के लिए तत्पर रहता था। बड़ी गहरी जमती थी मोती और दिलीप की, एक शहर का और एक गाँव का, लेकिन फिर भी दोनों एक-दूसरे को कितने क्रिस्से सुनाते। मोती क्रांतिकारी साहित्य के अनेक हिस्से मुँहजबानी सुनाता, और फिर गँवार की तरह ठठा कर हँस पड़ता। इसी तरह के जोश में एक गाँव में खेतिहरों ने खेतों की फसल पर कब्जा कर लिया। पुलिस भी देखती रह गई। इसे सर्वहारा की जीत के रूप में मनाया गया। अलबत्ता यह भी सच था कि मजबूत और बड़े मालिकों के खेतों की फसल को कोई छू भी नहीं सका। उनके पास ट्रैक्टर थे, बंदूक और भाले थे, प्रशासन-व्यवस्था थी, और सबसे महत्वपूर्ण था उनके प्रति किसानों और मजदूरों की स्वामिभक्ति। फिर भी थोड़ी उम्मीद जगी थी। सब एक-दूसरे को कामराइट-कामराइट (यानि वो कॉमरेड जो राइट काम करता है) कह रहे थे। सिंपथाइजर की संख्या पूर्णिया में बढ़ रही थी। ये सिंपथाइजर शहर से आए काडर को आश्रय देते थे लेकिन गाँवों में काम कर रहे कार्यकर्ताओं से दूरी रखते थे। उन्हें हिंसा से सख्त परहेज था। पार्टी के अंदर ही मनोज जैसे

²¹ वही : 32.

²² वही : 33.

कार्यकर्ता थे जो अनिश्चितता की आहट सुन रहे थे। वो तो कहता भी था कि 'एक मुट्ठी लोक आ एक गट्टी नोटसँ कोनो क्रांति सफल नहि भह सकैत अछि'।²³ यानि कि थोड़े बहुत लोग और थोड़े पैसे से भला क्रांति कैसे हो? शोषित भी शोषक बनने को तैयार हो तो क्या क्रांति? जो गरीब हैं उनको पेट भर खाना भी नहीं मिलता तो वो कैसे शेल्टर देगा और खिलाएगा किसी काडर को? मनोज ने कितनी बार दिलीप को भी अपने घर-परिवार की तरफ लौटने की सलाह दी।

ऐसे ही दौर से सुजीत भी गुजर रहा था। किस पर भरोसा करें किस पर नहीं, ये एक भारी चुनौती बनते जा रही थी। रामचंद्र सिंह अपने आप को कम्युनिस्ट कहता था और सब उसे भरोसे का आदमी समझते थे। लेकिन वो तो बस एक लुटेरा निकला। वो लूटपाट करता और सब गाँव वाले उससे डरते। जो कोई कॉमरेड उसका विरोध करता रामचंद्र सिंह उसे सीआयए का एजेंट घोषित कर देता और अपने डेरे पर चाकरी करवाता। गरीब किसान समझते कि कम्युनिस्ट लोग अपना-अपना माल बना रहे हैं और गरीबों को क्रांति का सपना दिखा रहे हैं। ऐसे में एक खबर उड़ी, पूर्वी पाकिस्तान के कॉमरेड अनवर हुसैन ने चारु मजूमदार को पूर्वी पाकिस्तान के वामपंथी पार्टी का लीडर बनने के लिए अनुरोध किया है। एक ग्रामीण था दुखना जिसके पास रेडियो था और उसी पर सबने रेडियो पीकिंग पर चारु मजूमदार के विचारों की चर्चा सुनी। लग रहा था कि उनके स्थानीय नेता की अब अंतर्राष्ट्रीय छवि बन गई है। कॉमरेड लोगों के शेल्टरों में उत्साह की लहर छा गई। कलकत्ते की सड़कों की दीवारें अब और भी स्लोगनों से भर गईं। पूर्वी पाकिस्तान की खलबली की खबर आग बन कर फैलने लगी। सबकी नज़र में पाकिस्तान दो भागों में बँटा हुआ था। ईस्ट मजदूरों का और वेस्ट मालिकों का। ये दो अलग प्रदेशों या देशों की लड़ाई नहीं बल्कि दो वर्गों की लड़ाई के रूप में प्रचलित हो रहा था। क्रांति का एक नया मानचित्र उभरा जिसमें पूर्णिया से लेकर मणिपुर और असम तक जुड़ गए थे। योजना थी कि दिल्ली, हरियाणा, पंजाब और कलकत्ते के कार्यकर्ताओं को जोड़ा जाए ताकि वो एक-दूसरे की मदद कर सकें। स्वाधीन भारत में जो गहरा वर्ग-भेद पला और बढ़ा था उसके खिलाफ एक विप्लव की सोच बन रही थी। बंगाली भाषी पाकिस्तानी शरणार्थी का इस इलाके में आना शुरू हो गया था। कटिहार स्टेशन और आसपास के इलाकों में शरणार्थी बहुतायत में इकट्ठे हो गए थे और पुलिस को सुरक्षा का इंतज़ाम करना पड़ा था। सिलीगुड़ी और जलपाईगुड़ी में तो शरणार्थियों का उपद्रव फैल गया था। चोरी-चकारी और खून-खराबा आम बात हो गई थी और प्रशासन रोकथाम में विफल हो चुका था। तुरंत यह कि जो भी अपराध होता उसका दोष नक्सलवादियों के सर मढ़ दिया जाता।

समय की गंभीरता ऐसी बढ़ी कि सच से ज्यादा कानाफूसी और विश्वास से ज्यादा संदेह हवा में फैल गए। किसी ने कहा जंगल संथाल पुलिस की गिरफ्त में आ गए। किसी ने कहा कि चारु मजूमदार की अपील है कि सब मिलकर बंगाल की आजादी के लिए संघर्षशील

²³ वही : 47.

मुक्तिवाहिनी सेना का समर्थन करें। तो किसी ने बताया कि मुक्तिवाहिनी जब तक सरकारी तंत्र के गठजोड़ में है उसका साथ नहीं दिया जाए। क्या सच था क्या नहीं, कहना मुश्किल हो गया था। उन्हीं दिनों किसी गुप्त बैठक में अनिल ने इकट्ठे हुए काडर को वस्तुस्थिति की जानकारी दी और सलाह दिया कि शेल्टरों पर भरोसा न किया जाए। स्थानीय नेता शिवनारायण बिल्कुल हतोत्साहित हो चुके थे। जहाँ तहाँ काडर पुलिस की गिरफ्त में आ रहे थे। कुछ का पता चलता कि वो जेल में हैं और कुछ के बारे में कोई खबर नहीं होती। ऐसी ही स्थिति में, ‘नक्सलवादियों को चीन समर्थक और पश्चिमी पाकिस्तान का सहअपराधी मान लिया गया था’।²⁴

सुजीत, दिलीप, अनिल और अन्य सभी काडर अपने आपको सुरक्षित रखते हुए भटक रहे थे। सुजीत को गाँव के किसी किसान ने कहा, ‘झगड़े के लिए भड़काने का काम छोड़ कर कोई और काम कीजिए। ये शिवनारायण की तो आदत हो गई है कि वह पकड़ कर सबके सर पर कॉमरेड थोप देता है’।²⁵ डाकू... रामचंद्र सिंह और उसके गिरोह का भी सफ़ाया हो चुका था। गाँव वालों ने ही घेर कर पुलिस के हवाले कर दिया। उधर नेता शिवनारायण पर संदेह था कि उन्होंने स्कूल मास्टर (जो पार्टी के बंक थे) की हत्या कर दी थी। अनिल यह सब सुनकर बौखला उठते थे। ‘उनका मन करता था कि किसी पत्थर या ईंट से किसी का सिर फोड़ दें। वो ऐसे ख्याल से भागकर अपने ट्रक के पास जाते और उसे रगड़-रगड़ कर धोने-साफ़ करने लगते। शायद मानसिक संतुलन के लिए ये शारीरिक परिश्रम ही उनकी मदद करता था। अनिल बाल्टी को चापाकल के नीचे पटक कर रखते और ज़ोर-ज़ोर से पानी निकालने के लिए हैंडल पर बल लगाते। उन्हें लगता कि वो किसी मोटे सूअर का गला रेत रहे हों’।²⁶ अनिल का बड़ा मन हो रहा था कि वो पार्टी छोड़ दें। सुजीत को भी नज़र आ रहा था कि जो कल तक सिंघाड़ाज़र थे वो अब कट्टर विरोधी हो गए। पूर्णिया में नए काडर की बैठक होती तो थी, लेकिन पता चलता कि वो सब धड़ल्ले से गिरफ़्तार हो रहे थे। सुजीत भी बहुत दिन तक नहीं बच सका और दरोगा जी ने तिकड़मी हथकंडे अपना कर सुजीत के ज़रिये दो-तीन अन्य कार्यकर्ताओं को भी धर दबोचा। बासदेव भी एक ऐसा स्थानीय कार्यकर्ता था जो हवालात में पड़ा रहा। चूँकि सुजीत स्थानीय नहीं थे उन्हें छोड़ दिया गया। स्थानीय कार्यकर्ता और ग्रामीणों में यह ख़बर भी थी कि बड़े घर के लड़के बच जाएँगे, साधारण लोगों का कुछ नहीं होगा। कल का समर्थक स्थानीय युवक सिवन मरड़ जिसे सब सिबना कहते थे अब मुक्तिवाहिनी का जवान बन कर सिवचंद्र मंडल कहलाने लगा था। दिलीप जब उससे मिले तो उसने कहा, ‘देश के काम में अगर मेरा शरीर लग गया तो मैं धन्य हो गया। कामराइट, आप भी जवान बन जाइए। दोनों मिलकर दुश्मन के दाँत तोड़ेंगे’।²⁷ अनिल को भी पता चला कि दुखना ने कुछ लोगों को मुक्तिवाहिनी में भर्ती करवाया है। ‘सभी

²⁴ वही : 69.

²⁵ वही : 74.

²⁶ वही : 77.

²⁷ वही : 84.

देशभक्त कहलाना चाहते थे, देशद्रोही नहीं।²⁸ सुजीत और अनिल ने सोचा कि तीनों दोस्त साथ आए थे, और तीनों इस भयावह हालात से साथ निकलेंगे।

लेकिन दिलीप नहीं माने और वो भटकते-भटकते गाँव में बासदेव के घर पहुँचे। वहाँ बासदेव की पत्नी का बुरा हाल था। बासदेव के भाई रामदेव और उसकी पत्नी ने दिलीप को खूब खरी-खोटी सुनाई। लेकिन दिलीप बासदेव की पत्नी की सेवा, दवा-दारू करते रहे। जब वह ठीक हो गई तो दिलीप आगे बढ़े। लेकिन कहाँ और क्यों, ये कुछ पता नहीं था। क्रांति का इरादा तो अब भी था, लेकिन हालात बिल्कुल ही अनुकूल नहीं थे। थके-हारे और बीमार दिलीप मुर्मू के घर पहुँचे जिसने उन्हें घर पर बना हुआ दारू पिलाकर ठीक करने की कोशिश की। मुर्मू वहाँ की एक मेहनतकश, गीत गाने में निपुण, सौतर जाति का जवान था। ये लोग अभी भी क्रांतिकारी विचार रखते थे। लेकिन मुसरी गाँव में कोई भी पुरुष नहीं बचा था जो क्रांतिकारी गतिविधियों के लिए उपलब्ध हो। फिर भी दिलीप वहाँ और अन्य गाँव के लोगों को पाकिस्तान के युद्ध के विरुद्ध और मुक्तिवाहिनी के खिलाफ समझाने की कोशिशें कर रहे थे। इसी बीच उड़ती उड़ती खबर आई कि कानू सान्याल और जंगल संधाल पकड़े गए हैं हालाँकि पार्टी को तनिक भी विश्वास नहीं था ऐसी खबरों पर। गाँव-गाँव, घर-घर पर पुलिसिये और सामाजिक जासूसों की नज़र थी। कोई भी संदिग्ध गतिविधि होती तो तुरंत कार्रवाई हो जाती। ऐसे में दिलीप किसी एक घर, एक गाँव में नहीं रुक सकते थे। सुबह इस गाँव में तो शाम कहीं और बीता। वो एकदम 'मित्रहीन, आश्रयहीन और अकेले'²⁹ महसूस करने लगे थे।

आखिरकार घूमते-भटकते दिलीप को, घूमते-भटकते अनिल ने ढूँढ़ लिया। किसी गाँव के एकांत में एक मंदिर था, महादेव का, वहीं दिलीप बुखार से बोझिल खस्ताहाल पड़े हुए थे और अनिल भी सफ़र से थके वहीं आए। दोनों किसी तरह जहाँ-तहाँ उठते-बैठते आगे बढ़े। कहीं पर मिला तो माँड़ (पके हुए चावल से निकला तरल द्रव्य) पी लिया और थोड़े टनमना गए। कहीं पर कोई बात हुई तो क्लांत चेहरे पर हँसी आ गई। दोनों दोस्त एक-दूसरे की सुधि लेने की कोशिश करते लेकिन दोनों की हताशा एक जैसी ही थी तो ज़्यादा शब्दों में कुछ कहने की ज़रूरत नहीं पड़ी। फिर भी जब अनिल ने पूछा, 'आपको कहीं सफलता मिली?', तो जवाब में लंबी और डरावनी सी खामोशी ही मिली। बहरहाल दिलीप को अनिल से जानने को मिला, पाकिस्तान से अलग एक नया देश जन्मा है, बांग्लादेश!

दोनों दोस्त कलकत्ता पहुँचे। सड़क के किनारे दीवारों पर अभी भी नारे लिखे हुए थे। युद्ध के समर्थन में, विजय के नारे, विजय के बाद के नारे, और भारतीय प्रधानमंत्री की छवि। और कहीं दीवार पर यह भी लिखा था, 'एशिया का सूरज, इंदिरा गाँधी'।³⁰ दिलीप ने अनिल को विदा कहा और अपने घर चले गए।

²⁸ वही : 99.

²⁹ वही : 105.

³⁰ वही : 127.



अंततः पटाक्षेप नहीं

जबकि पूरा समाजशास्त्र सामाजिक संबंधों, संस्थान, व्यवहार और प्रणाली को समझने के प्रति कटिबद्ध है, यह ज़रूरी है कि इसी तरह की कटिबद्धता को साहित्य में भी देखा जाए। और दोनों, साहित्य और समाजशास्त्र के संबंध के आलोक में ही साहित्य का समाजशास्त्र हो जिसमें पाठ, पठन, और पाठक को लेखक के साथ एक प्रकार का व्याख्यात्मक संवाद हो। लिली रे के जीवन और पटाक्षेप के रूबरू ऐसी संभावना प्रबल हो जाती है। इसमें लेखक और पाठक, पाठ को पढ़ते हुए, संवाद कर सकते हैं। ऐसा इसीलिए है क्योंकि लिली रे अपनी लेखकीय भूमिका को सहज और सरल रखती हैं। इतना सरल कि लेखक के गौण होने तक का एहसास हो। जैसा कि संपादक रामानंद झा रमण ने उल्लेख किया, लिली रे कथोपकथन शैली में लिखती हैं जो बहुत हद तक किसी रिपोर्टर का आँखों देखी घटना का सीधा प्रसारण जैसा लग सकता है। लेकिन इसी विधा में पाठकों को अपने-अपने अनुभवों के साथ लिली रे और उनके पात्रों से रिश्ते बनाने का मौक़ा मिलता है। इसमें सच और कल्पना का एक ऐसा आलिंगन है कि सच ही कल्पना और कल्पना ही सच है। समाज और उसकी भौतिकी, संस्कृति और उसकी राजनीति, सामाजिकता और ऐतिहासिकता, एक साम्य की स्थिति में हैं और उसी की व्याख्या हो रही है। यह लेखकीय जीवन और उसका रचना कर्म ही साहित्य का समाजशास्त्र है। आम तौर पर समाजशास्त्र समाज को जानने और समझने का बाह्य प्रयत्न है। इस बौद्धिक प्रयत्न से, सिद्धांतों और अवधारणाओं के सहारे तैयार करके इसके माध्यम से समाज और संस्कृति को पढ़ा जाता है। लिली रे के जीवन और लेखन के अंदर ही एक समाजशास्त्र है, जिसे उकेर कर हम समाज और संस्कृति को बिना लाग-लपेट और बाहरी सहारे के ही समझ सकते हैं। साहित्य और साहित्यकारों के ऐसे ही उपक्रमों को देखते हुए यह सवाल महत्त्वपूर्ण है: कैसा हो साहित्य-संस्कृति का समाजशास्त्र, जिसमें देशज भाषाओं में रचित साहित्य को पढ़ा, समझा और विश्लेषित किया जाए? इस बृहत् प्रश्न का उत्तर ढूँढ़ने के लिए लगातार प्रयास की ज़रूरत है। यह लेख साहित्य को सामाजिक-सांस्कृतिक परिधि में

देखता है, और साहित्य, एंथ्रोपॉलजी और सोसॉलजी में एक समानता को उजागर करता है। इन सबमें रिश्ते-नातों का केंद्रीय स्थान रहा है। बस तथ्य और कल्पना के स्वघोषित मिश्रण का फ़र्क हो सकता है।

साहित्य के इस समाजशास्त्र में यह भी एक महत्वपूर्ण प्रश्न है कि सामाजिक और राजनैतिक वर्चस्व वाले भाषा और उनके साहित्य ही नहीं वर्नाक्युलर कही जाने वाले अनगिनत भाषाओं और उनमें रचे साहित्यों को भी समुचित स्थान मिलना चाहिए। साहित्य-संस्कृति के इतिहास में अगर कहीं संस्कृत कॉस्मोपॉलिस³¹ (संस्कृत भाषा और साहित्य का विस्तृत प्रभाव क्षेत्र होगा)। तो कहीं वर्नाक्युलर कॉस्मोपोलिटनिज़म (स्थानीय भाषा-साहित्यों में विश्ववादी रुझान) भी होगा, जिसके बारे में होमी भाभा, मार्था नुसबॉम और अनेक चिंतकों ने अलग-अलग विचार दिए हैं।³² इस लेख में लिली रे की जीवन यात्रा और उससे प्रत्यक्ष रूप से जुड़े उपन्यास *पटाक्षेप* को पढ़ते हुए उसी वर्नाक्युलर कॉस्मोपोलिटनिज़म का एक मानचित्र बनता है, जिसे प्रस्तुत लेख में अनुभवों का भूगोल कहा गया है। इस मानचित्र की एक विशेषता है कि यह एक संदर्भ है स्थानीयता का लेकिन इसमें जो सीमांकन है वो अनिश्चित है। अनुभवों के भूगोल में, वर्नाक्युलर साहित्य-संस्कृति में प्रस्तुत कॉस्मोपोलिटनिज़म में, सीमाएँ उतनी ही अनिश्चित होती हैं जितना जीवन और उसके उतार-चढ़ाव। कौन-सी नाव कहाँ लगे, और कब हिचकोले खाती आगे की यात्रा पर निकल जाए कहना मुश्किल है। लिली रे की भी नाव ऐसी ही है, उनका जीवन और साहित्य उसी सीमांकन की असीमता, अनुभवों के अंचल में रहते हुए भी आंचलिकता से पार जाती है। और इन्हीं संभावनाओं के नज़रिये से *पटाक्षेप* के संपादक रामानंद झा रमण की यह बात समझ में आती है कि लिली रे के मैथिली में साहित्यिक योगदान का ‘पटाक्षेप नहीं’ हो सकता।

शुक्रिया : इस आलेख की शुरुआत तब हुई जब प्रोफ़ेसर मणींद्र नाथ ठाकुर के निर्देश और आग्रह पर मैंने लिली रे को पढ़ना शुरू किया। इसके लिए मैं उनका कृतज्ञ हूँ।

संदर्भ

जयकांत मिश्रा (1998), *मैथिली साहित्यिक इतिहास*, साहित्य अकादेमी, दिल्ली।

टी. एन. मदन (2013), *सोसियॉलजी ऐट द युनिवर्सिटी ऑफ़ लखनऊ (1921-1975)*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली।

तारानंद वियोगी (2019), *युगों का यात्री : नागार्जुन की जीवनी*, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।

दिलीप सिमियन (2010), *रेवोल्यूशन हायवे*, पेंगुइन, दिल्ली।

³¹ इस विषय पर शेल्डन पोलॉक (2006) के विस्तृत विमर्श को देखने और समझने की ज़रूरत है। साथ ही रिचर्ड ईटन (2019) के फ़ारसी कॉस्मोपॉलिस पर भी विश्लेषण देखा जा सकता है।

³² एक संक्षिप्त और विहंगम दृष्टि के लिए देखें पी.वरबनर (2006)।

- देवकांत झा (2004), *ए हिस्ट्री ऑफ़ मॉडर्न मैथिली लिटरेचर* : पोस्ट इंडिपेंडेंस पीरियड, साहित्य अकादेमी, दिल्ली.
- देव नाथ पाठक (2019), *लिविंग एंड डाईंग* : मीनिंग्स इन मैथिली फ़ोकलोर, प्राइमस, दिल्ली.
- _____ (2022), *इन डिफ़ेंस ऑफ़ द ऑर्डिनरी* : एवरीडे अवेकेनिंग्स, ब्लूम्सबरी, दिल्ली.
- _____ (2022), 'हरिमोहन झा'ज खट्टर कका : ह्यूमरस सबवर्जन ऑफ़ हिंदुइज़म इन मिथिला', *साउथ एशियन रिव्यू*, डी ओ आई: 10.1080/02759527.2022.2033071.
- पी वरबनर (2006), 'वर्नाक्युलर कॉस्मोपॉलिटिज़म', *थ्योरी, कल्चर एंड सोसाइटी*, 23 (2-3) : 496-498.
- भरत मुनि (1951), *नाट्यशास्त्र* (मनमोहन घोष द्वारा अंग्रेज़ी में अनूदित), एशियाटिक सोसाइटी ऑफ़ बंगाल, कलकत्ता.
- मिथिलेश कुमार झा (2018), *लैंग्वेज पॉलिटिक्स एंड पब्लिक स्फ़ीयर इन नॉर्थ इंडिया* : मेकिंग ऑफ़ द मैथिली मूवमेंट, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली.
- मिशेल फूको (1977), 'व्हाट इज़ ऐन ऑथर?', डोनाल्ड एफ़ बोकार्ड (सं), *लैंग्वेज, काउंटर मेमोरी, प्रैक्टिस*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, इथाका : 113-138. राधाकमल मुखर्जी (1944), 'आर्ट ऐज़ सोशल साइंस', द सोशियोलॉजिकल रिव्यू, वॉल्यूम 36, इशू 1-4 : 60-66.
- रबींद्र रे (1980), *द नक्सलाइट्स एंड देयर आयडियॉलजी*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली.
- राधाकमल मुखर्जी (1948), *द सोशल फ़ंक्शन ऑफ़ आर्ट*, हिंद किताब लिमिटेड, बॉम्बे.
- रामदेव झा (2002), *मैथिलि लोकसाहित्य : स्वरूप ओ सौंदर्य*, मिथिला रिसर्च सोसाइटी, लहेरियासराय, दरभंगा.
- रिचर्ड ईटन (2019), 'द पर्सियन कॉस्मोपॉलिस (900-1900) एंड द संस्कृत कॉस्मोपॉलिस (400-1400)', अब्बास अमानत और आसिफ़ अशरफ़ (सं), *द पर्सियनेट वर्ल्ड : रीथिंकिंग ए शेयर्ड स्पेस*, ब्रिल, लंदन.
- रोलाँ बार्थ (1977), 'द डेथ ऑफ़ दि ऑथर', *इमेज, म्यूज़िक, टेक्स्ट, हिल एंड वैंग*, न्यू यॉर्क : 142-148.
- लिली रे (1981), *मरीचिका*, मैथिली अकादेमी, पटना.
- _____ (2014), *रंगीन परदा*, साहित्यिकी प्रकाशन, सरिसब पाही.
- _____ (2015, क), *समयकें धंगैत*, साहित्यिकी प्रकाशन, सरिसब पाही.
- _____ (2015, ख), *पटाक्षेप*, साहित्यिकी प्रकाशन, सरिसब पाही.
- शेल्डन पोलॉक (2006), *द लैंग्वेज ऑफ़ द गॉड्स इन द वर्ल्ड ऑफ़ द मेन : संस्कृत, कल्चर एंड पावर इन प्रीमॉडर्न इंडिया*, युनिवर्सिटी ऑफ़ कलिफ़ोर्निया प्रेस, कलिफ़ोर्निया.
- हेतुकर झा (1991), *सोशल स्ट्रक्चर्स ऑफ़ इंडियन विल्लेजेज* : ए स्टडी ऑफ़ रूरल बिहार, सेज, दिल्ली.